आत्म–जगत् से प्राकृतिक जगत् में पहुँचती है।"

सर लॉज ने शरीर में जिस प्रकार से सारा कार्य होता है, यह अन्दर का कारखाना कैसे चलता है, किस नाड़ी से क्या होता है, इन सब पर दृष्टि डालते हुए अन्त में यही निश्चय किया कि आत्मा के बिना यह कारखाना चल नहीं सकता !

पश्चिमी विद्वान् और वैज्ञानिक अधिकतर अब इसी सिद्धान्त को स्वीकार करने लगे हैं कि भौतिक पदार्थों और तत्त्वों के अतिरिक्त आत्मा की शक्ति भी है और उसी की प्रेरणा से सारे कार्य होते हैं।

हमारे पूर्वजों ने यह तथ्य कैसे जाना ?

परन्तु हमारे पूर्वजों ने तो यह तथ्य करोड़ों वर्ष पूर्व ही जान लिया था और वेद भगवान् तथा समाधि द्वारा प्रत्यक्ष भी कर लिया था। गौतम मुनि ने 'न्याय–दर्शन' में स्पष्ट बतलाया है कि ईश्वर, जीव, और प्रकृति तीनों नित्य, अनादि और स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं।

इसी कारण कणाद मुनि भी 'वैशेषिक दर्शन' में ईश्वर, जीव, प्रकृति, तीनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं। पतंजलि मुनि भी तीनों को नित्य और स्वतन्त्र सत्तावाले मानते हैं। कपिल मुनि भी जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता का समर्थन करते हैं।

प्राचीन काल में एक बार विद्वानों के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह सारा संसार क्या है ? हमारा जन्म कैसे और क्यों हो गया ? ये सुख–दुःख क्या हैं ? यह मृत्यु क्या है ? क्या 'काल' इस जगत् का कारण है ? हम देखते हैं कि सब वस्तुएँ ऋत्वनुसार होती हैं और सभी काल का ग्रास बनते हैं परन्तु फिर यह बात समक्ष आ जाती है कि जिसका जैसा अपना स्वभाव (नेचर – Nature) होता है वैसा ही वह कार्य करता है। अग्नि का स्वभाव जलाना है, पानी का आग को शान्त करना है। आग न पानी को शान्त करती है, न जल अग्नि को जलाता है। गेहूँ ही गेहूँ उत्पन्न करता है, चावल नहीं। तो क्या संसार का कारण 'स्वभाव' है ? इसके साथ यह भी देखा जाता है कि हम योजनाएँ कुछ बनाते हैं और हो कुछ और ही जाता है – तब क्या संसार का कारण 'होना' या 'नियति' है ? फिर क्या यह सब कुछ 'यदृच्छा' (चान्स – Chance) से ही हो गया ? या आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी के तत्त्व ही कारण हैं ? ये सारे संशय जब उत्पन्न हुए तो इन पर पूरा विचार करने पर भी वे किसी एक परिणाम पर न पहुँच सके। उन्होंने तब दूसरा मार्ग पकड़ा और ध्यान तथा समाधि के द्वारा इस समस्या को सुलझाया। उन्होंने समाधि में प्रत्यक्ष देखा कि संसार का कारण परमात्मा की निज शक्ति है। इसका वर्णन 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में इस प्रकार किया है :

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढा।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।।

श्वेता. 1.2

'उन्होंने ध्यान और समाधि में मग्न हो अपने कार्यों (सूर्य आदि) के अन्दर छिपी हुई, परमात्मा की निज शक्ति को प्रत्यक्ष देखा – जो परमात्मा अकेला काल वा आत्मा समेत उन सारे कारणों का अधिष्ठाता है।'

जिन तथ्यों को आजकल के वैज्ञानिक बड़ी–बड़ी लेबॉरेटरी के होते हुए भी अभी तक पा नहीं सके, हमारे ऋषियों ने वे सारे तथ्य ध्यान और समाधि–अवस्था में पहुँचकर पा लिए थे, सृष्टि रचना के एक– एक तत्त्व को प्रत्यक्ष करके देख लिया था। उन सब का व्यक्तिगत और सामूहिक अनुभव भी यही था कि यह संसार एकमात्र भगवान् की सामर्थ्य से बना है। उसी ने प्रकृति को प्रेरणा दी और यह जगत् जीवात्मा के हितार्थ प्रकट हो गया है।

यह संसार क्या है ?

अब सब प्रश्नों से बड़ा प्रश्न यह सामने आता है कि चौबीस भौतिक या अनात्म–तत्त्वों की बात भी समझ ली और इन चौबीस के अतिरिक्त जीवात्मा तथा ईश्वर इन दो आत्म–तत्त्वों का भी कुछ वर्णन सुन लिया, परन्तु जब यह संसार जीव के हितार्थ ही बनाया गया था तो फिर यह सारा प्रपंच दुःख क्यों दे रहा है और क्यों हम इस झगड़े में फँस गए हैं? कुछ लोग तो संसार के दुःखों तथा क्लेशों को देखकर यही कहने लगे हैं कि क्यों व्यर्थ जीवन नष्ट करते हो ? खाओ, पियो और मौज उड़ाओ ! यह दुनिया हँसने, नाचने, गाने तथा मजे उड़ाने के लिए बनी है। एक समय ऐसे ही लोगों का एक देश में राज्य हो गया था जो नाना स्वादु पदार्थ खाते–पीते और फिर औषध लेकर वमन कर देते तथा फिर खाने में जुट जाते थे। भारत में तो एक संप्रदाय ही ऐसा प्रकट हो गया जिसने काम–वासना को पूर्ण करना और मद्य पीते–पीते मर जाना ही मुक्ति का साधन समझ लिया। आधुनिक काल में यह विचार बढ़ता ही चला जा रहा है कि खाना, पीना और तमाशे देखना ही जीवन का लक्ष्य है। दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जो दुःखों से पीड़ित संसार को देखकर इससे सर्वथा मुख मोड़ बैठे हैं। मिस्टर के. एच. Holmes तो यह कहता है कि यह सारी दुनिया एक धोखा है, केवल खोखलापन है और कोरी विडम्बना है, जिस प्रकार दूसरी बुराइयों को छोड़ना है ऐसे ही इस एक बड़ी बुराई का त्याग भी करना होगा। भारत में कितने ही त्यागी और विरक्त महात्मा सांसारिक पदार्थों का सर्वथा त्याग करके वनों में जा बैठे और केवल आत्म–चिन्तन के लिए जीवित हैं।

खाओ, पियो, मौज उड़ाओ के अतिरिक्त

एक तीसरे प्रकार के लोग भी हैं जो न 'खाओ, पियो, मौज उड़ाओ' पर चलते हैं, न ही दुनिया से मुँह मोड़ते हैं, अपितु संसार में रहकर कष्ट–दुःख भोगते हैं फिर भी अपने कर्त्तव्य को पूरा करते रहते हैं। इनमें से कुछ लोग ऐसे भी हैं जो जीवन को बिना किसी प्रयोजन तथा बिना उद्देश्य के समझते हैं, जिन्हें भविष्य अन्धकारमय दिखलाई देता है और जो वर्तमान को भी अन्यन्त दुःखवादियों के समान दुःख– रूप ही देखते हैं। ऐसे निराश हताश लोग यह समझते हैं कि मनुष्य ऐसे ही जन्म ले लेता है, फिर खान–पान तथा मान के लिए दिन–रात परिश्रम करता है। बालक से युवक, युवा से वृद्ध होकर मर जाता है। एक मरता है, दूसरा जन्म लेता है। वह मृत्यु का ग्रास होते लोगों को देखता है और अपनी मृत्यु को भूलकर उसी चक्र में फँसा रहता है। कुछ अन्न खाकर, पानी पीकर, वस्त्रों का प्रयोग करके, कुछ इन्द्रियों के विषयों की अग्नि में समिधाएँ डालकर चल देता है। कहाँ ? यह आज तक कोई भी बतला नहीं सका और यह क्रम पता नहीं कब से चल रहा है और कब तक चलता रहेगा ?

संसारी जीवों की वेदना

इस दुनिया में जो फिर ऐसा जीवन व्यतीत करते हैं, क्या वे इसी पर सन्तुष्ट हो जाते हैं ? नहीं, वे और आगे बढ़ते हैं। वे अपनी कामनाओं को एक देश का सामूहिक रूप देते हैं और उसको पूर्ण करने के लिए आसुरी शक्तियों का आह्वान करते हैं। तब युद्धों की तैयारियाँ होने लगती हैं। मनुष्य ही मनुष्य का संहार करने लगता है, रक्त की नदियाँ चलती हैं, मानवता किनारे खड़ी रुदन करती है। कितनी देवियाँ विधवा, कितने बालक अनाथ, कितने मनुष्य बिना हाथ–पाँव के हो जाते हैं। मनुष्य भयङ्कर व्याघ्र बन जाता है। यह क्या जीवन हुआ ? यह क्या जीवन–उद्देश्य हुआ ?

फिर जो वेदना, पीड़ा, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष की अग्नि संसारी लोगों में भड़क रही है,इसे देखकर तो इस संसार से चित्त और भी ऊब जाता है। संसार की ऐसी अवस्था देखकर ही बौद्ध धर्म–ग्रन्थ 'धम्मपद' की गाथा 145 में यह पुकारा गया है :

को नु हासो किमानन्दो नित्यं
पज्जलिते सति।

'जब यह संसार नित्य जलते घर के समान है, तब यहाँ हँसी क्या हो सकती है और आनन्द क्या मनाया जा सकता है ?'

क्रमशः

आर्यसमाज के अयोग्य पदाधिकारियों का क्या होना चाहिए ? महर्षि का एक पत्र मार्गदर्शक हो सकता है

महर्षि दयानंद सरस्वती के समय में मुंबई आर्यसमाज के प्रधान हरिचन्द्र चिंतामणि थे। उनके प्रबन्ध या व्यवहार के संबंध में नाराज़गी प्रकट करता हुआ एक पत्र पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा ने स्वामी जी को लिखा था, जिसमें उन्होंने कुछ ऐसा लिखा था कि आप यहाँ आइए, अन्यथा यहां का समाज टूट जाएगा, इत्यादि।

इस पत्र के उत्तर में महर्षि जी ने पंडित श्याम जी कृष्ण वर्मा को 4 मार्च, 1879 को लिखे पत्र में लिखा था–

"और जो तुमने समाज के विषय में लिखा कि ना आओगे तो यहाँ का आर्यसमाज टूट जाएगा। क्या तुमने समाज हरिश्चंद्र चिंतामणि के ही भरोसे किया था और जो मेरे आने– जाने पर ही समाज की स्थिति है तो मैं अकेला कहाँ–कहाँ आजा सकता हूँ। जो समाज में अयोग्य प्रधान हो उसको छुड़ाकर दूसरा नियत करके समाज का काम ठीक–ठीक चलाना चाहिए।"

{स्रोतः प्रो. महेशप्रसाद मौलवी ग्रंथावली. पृ. 71}

भावेश मेरजा

मूर्तिपूजा का समर्थन कितना सार्थक ?

● डॉ. रघुवीर वेदालंकार

आर्यजगत् के 26 मार्च के अंक में श्री दत्तात्रेय तिवारी जी का एक लेख "मूर्तिपूजा का विरोध कितना सार्थक ?" छपा है। तिवारी जी गुरुकुल कांगड़ी के पुराने प्रबुद्ध स्नातकों से हैं। हमारे प्रणम्य अग्रज हैं। पता नहीं क्यों समय–समय पर आर्य समाज एवं महर्षि दयानन्द के सिद्धांतों के विरुद्ध उनकी लेखनी सक्रिय हो उठती है। कभी हिन्दू नाम के पक्षधर होकर तो कभी मूर्तिपूजा के समर्थक होकर। स्वामी श्रद्धानन्द के शिष्यों से ऐसी आशा तो नहीं की जा सकती। लगता है कि तिवारी जी का मानस हिन्दुत्व तथा उसमें अनुस्यूत मूर्तिपूजा आदि के प्रति श्रद्धावान है। आपका उपनाम तिवारी मी इस बात में प्रमाण है, जबकि गुरुकुल के स्नातक अपने नाम के आगे अलंकार लगाने में गौरव अनुभव करते हैं। तिवारी की अपनी मान्यता हो सकती हैं, किंतु उनको प्रछन्न रूप से अन्यों पर लादने का यत्न न करें तो प्रशस्य होगा।

आपने लिखा कि मूर्तिपूजा के विरोधी रूख के कारण उसकी (आर्यसमाज की) छवि अब मात्र मूर्तिपूजा–विरोधक की ही रह गयी है। सम्भवतः तिवारी जी को पता नहीं है कि आज आर्य समाज में मूर्तिपूजक सदस्य तथा पदाधिकारी बन कर उनके कर्णधार बन गए हैं। अभी उत्तरांचल जाना हुआ तो बतलाया गया कि एक प्रमुख आर्य नेता देवी के उपासक भी हैं। महाराष्ट्र में प्रचार के समय बहुत घरों में मैंने स्वयं ऐसा देखा। दिल्ली का हाल तो सब जानते ही हैं। मूर्तिपूजकों ने कई समाजों को अपनी पकड़ में लिया हुआ है। यही कारण है कि आज उपदेशकों को सत्संगों तथा वार्षिकोत्सवों में स्पष्ट कह दिया जाता है कि खण्डन–मण्डन मत कीजिए। हम सभी से सहयोग लेते हैं। यह स्थिति आर्य समाज के मिटने का लक्षण है और वह मिटता– सिमटता जा भी रहा है। आज शास्त्रार्थ बन्द हो गए, प्रवचनों में खण्डन नहीं केवल वेदमंत्रों की व्याख्याएँ की जाती है।

आप भूत को अपने पक्ष में जीवित करते हैं कि मुम्बई आर्यसमाज की स्थापना के समय प्रारम्भिक 86 सदस्यों में मूर्ति पूजा भी थी। तिवारी जी ! यह प्रारम्भिक बात थी। प्रारम्भ में ऐसा होता ही है। तब लोग धीरे–धीरे मूर्तिपूजा छोड़ रहे थे, किंतु आज आर्यसमाजी भी मूर्तिपूजा अपना रहे हैं! महर्षि ने कहाँ लिखा है कि मूर्तिपूजा को भी समाज का सदस्य बना लिया जाए। आर्यसमाज का प्रथम नियम ही मूर्तिपूजा–अवतारवाद आदि सभी मान्यताओं को धराशायी कर देता है। यूँ तो लाला मूलराज महर्षि के काल में ही आर्यसमाज में प्रमुख था किन्तु उस मांसभक्षी के आधार पर क्या आर्यजनों को आज भी मांसभक्षण की छूट दे दी जाए! यह बात अलग है कि मूर्तिपूजा के समान अनेक तथाकथित आर्यसमाजी मांस भक्षण भी करते हैं तथा सुरापान भी। आर्यसमाज इन कारणों से मर रहा है, न कि मूर्तिपूजा के विरोध के कारण। इसी स्थल पर तिवारी जी ने महर्षि के इस कथन को भी मूर्तिपूजा के पक्ष में लगाने का दुष्प्रयास किया है कि 'यदि 500 सम्प्रदाय भी हो जाएँ, पर वे वेद को मानते रहें तो कोई चिन्ता की बात नहीं। यहाँ मूर्तिपूजा का समर्थन कहाँ से टपक पड़ा? क्या महर्षि दयानन्द के अनुसार वेदार्थ को मानने वाला कभी मूर्तिपूजक रह सकता है? इसके साथ ही आपका ध्यान क्या महर्षि के उस कथन पर नहीं गया कि मूर्तिपूजा तो गहरी खाई है जिसमें पड़कर आदमी चकनाचूर हो जाता है।

तिवारी जी पुनः लिखते हैं कि महर्षि का मुख्य उद्देश्य हिन्दू समाज को सुदृढ करना तथा उसकी सर्वांगीण उन्नति था। तिवारी जी! क्यों पाठकों को गुमराह कर रहे हैं आप? अब तक किसी को यह बात नहीं सूझी जो आपको सूझी है। क्या महर्षि ने कहीं लिखा है कि मैं हिन्दूसमाज का ही हितैषी हूँ अन्यों का नहीं। संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, न कि केवल हिन्दुओं का। यदि ऐसा ही था तो स्वामी जी ने हिन्दू की अपेक्षा आर्य नाम अपनाने पर क्यों जोर दिया तथा पीड़ा पूर्वक कहा कि गुणभ्रष्ट तो हो गए, सो हो गए, नामभ्रष्ट तो मत बनो। आप क्यों हिन्दुत्व के इतने पक्षधर हैं, समझ में नहीं आता।

आप लिखते हैं मूर्तिपूजा के खण्डन से समाज निष्प्राण हो रहा है। यदि ऐसा है तो जब मूर्तिपूजकों से शास्त्रार्थ होते थे, प्रवचनों में मूर्तिपूजा का खण्डन होता था, उस अतीत में आर्यसमाज प्राणवान् कैसे था? समाज आज निष्प्राण इसलिए हो रहा है कि–

(1) आज इसके त्यागी तपस्वी, संन्यासी, विद्वान्, उपदेशक बहुतयात में नहीं रह गए। जो हैं, धीरे–धीरे वे भी चले जा रहे हैं।
(2) स्वार्थ एवं पदलिप्सा हमारे मन में प्रवेश कर गयी है।
(3) कोई वर्चस्वी नेता आज विद्यमान नहीं है जो कि सबको अनुशासित कर सके।
(4) अपनी फूट जो पहले से ही चली आ रही है, विद्यमान है।
(5) आर्यसमाज के प्रछन्न विरोधियों ने सदस्य बन–बन कर आर्यसमाजों पर कब्जा कर लिया है तथा इसे अन्दर ही अन्दर शिथिल एवं खोखला बना रहे हैं। आचरण भ्रष्ट लोग भी पदों पर बैठे हैं, ऐसे में कौन आर्य समाज की ओर चलेगा?
(6) आर्यों ने सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यों को तिलांजलि देकर साप्ताहिक सत्संग, वार्षिकोत्सव तथा वेदप्रचार सप्ताह तक स्वयं को सीमित कर लिया है।
(7) आर्यसमाज मन्दिर जो कि प्रचार के केन्द्र थे, आज स्कूलों, दुकानों तथा अन्य समारोहों के माध्यम से धन–प्राप्ति का केन्द्र बन गए हैं।

करोड़ों की सम्पत्तियों पर कौन काबिज होना नहीं चाहता? इसी तरह के झगड़े तथा मुकदमें बढ़ रहे हैं।

तिवारी जी इस सम्भावना पर बल देते हैं कि नियम 2 में प्रभु के गुणों को स्वीकार करने वाला आस्तिक तथा सच्चरित्र व्यक्ति आर्यसमाज का सदस्य बनाया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि दूसरे नियम को हृदय से सर्वांश में स्वीकार करने वाला व्यक्ति मूर्तिपूजक रह ही नहीं सकता। दोगलेपन की बात अलग है। फिर, मूर्तिपूजा अकेली ही तो नहीं है, इसके साथ बहुत बड़ी फौज है। मूर्तिपूजक देवी को बकरों, भैसों, यहाँ तक कि मानवों की बलि भी देते हैं। वे अवतारवाद में भी विश्वास करते हैं। अनेक प्रकार के अन्य विश्वास तथा पाखण्ड मूर्तिपूजा से ही जुड़े हुए हैं। मूर्तियाँ भी कितनी हैं– काली की, भैरव की, राम की, कृष्ण की, साईं बाबा की, गायत्री की, विष्णु की, शिव की आदि–आदि। किस–किस को पूजेंगे आप? मूर्तियों के लिए मन्दिर भी चाहिए। सोमनाथ आदि के मन्दिर इसीलिए तो बने थे जिन्होंने भारत को गर्त में पहुँचा दिया। एक प्रश्न यह भी है कि मूर्तिपूजक बहुसंख्या में यदि आर्यसमाज के सदस्य होंगे तो क्या वे आर्यसमाजों में मूर्तियाँ नहीं रखेंगे? सिद्धान्ततः तो आपने मूर्तिपूजा स्वीकार ही की। यदि यही होना है तो हो गया आर्यसमाज का बंटाधार, बोलो दयानन्द की जय, तिवारी जी की जय। मूर्तिपूजा के प्रतिपादक शास्त्रों को क्या आप नहीं मानेंगे?

आप लिखते हैं भावना में सिद्धान्त से अधिक शक्ति है। तिवारी जी ! क्यों बहक रहे हैं आप? महर्षि के उस कथन का स्मरण तो कर लेते कि यदि भावना से ही सब कुछ होता है तो बालू में चीनी की भावना करने से मुख मीठा क्यों नहीं हो जाता? भावना के आगे आप सिद्धान्त की बलि चढ़ा रहे हैं, फिर भी उस महर्षि का शिष्य कहलाने का अधिकारी अपने आप को मान रहे हैं, जो सिद्धान्त के विषय में अणु मात्र भी तो पीछे नहीं हटा।

पं. बुद्धदेव जी का उदाहरण आपने दिया कि उन्होंने सिद्धान्त की रक्षा के लिए महर्षि के चित्र पर जूते मार दिए थे। उन्होंने सिद्धान्त की रक्षा के लिए नहीं, अपितु सिद्धान्त को न समझ कर ऐसा दुष्कृत्य किया था। पूजा अलग चीज है तथा सम्मान अलग चीज है। चित्र की न तो पूजा की जा सकती है और न ही अपमान। चित्र के प्रति मान भावना रखता सिद्धान्त–हानि नहीं, किन्तु उसकी पूजा नहीं की जा सकती। आप लिखते हैं ध्वज को हम ईश्वर की सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। यह आपका विचार होगा, जो हमें मान्य नहीं। क्या ध्वज में ही ईश्वर की सत्ता की अभिव्यक्ति हो रही है, हिमालय पर्वत में नहीं? आप में तथा मुझ में नहीं? ध्वज एक जड़ पदार्थ है, दर्जी की दुकान पर पड़े रहने पर उसका कोई मूल्य नहीं। हमारे हाथ में आते ही वह हमारी भावनाओं का प्रतीक बन जाता है इसलिए आदरणीय है. तथापि पूज्य या ईश्वर का प्रतिनिधि तो नहीं हो सकता। बहुत से आर्यसमाजी संघ के ध्वज को झुक कर अभिवादन करते हैं। ऐसा करना सिद्धान्त विरुद्ध है।

अन्त में आपने यह लिखकर अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर ही दिया कि 'आर्यसमाज हिन्दुत्व की परिधि में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सके।' शायद दयानन्द को भी यह विचार नहीं आया था जो कि आपको आ गया। ध्यान रखिए, दयानन्द ने हिन्दुत्व की परिधि को सर्वथा समाप्त करके पुरातन आर्य परिधि में सबको लिया है तो अब आप क्यों हिन्दुत्व की दुहाई दे रहे हैं?

आप आर्यसमाज को हिन्दु समाज का स्वल्प– सा अंश मात्र मानते हैं। क्या आपको हिन्दू तथा आर्य शब्दों के अर्थों तथा इनके प्रादुर्भाव का पता नहीं है? तिवारी जी ! जो कुछ लिखना है खुले रूप में लिखिए, प्रछन्न रूप में नहीं। क्षमा चाहता हूँ कि एक विद्वान् अग्रेज के लिए मुझे यह सब लिखना पड़ा। सम्पादक जी ने लिखा है कि राष्ट्र–ध्वज को प्रणाम, मृतक पर पुष्प मालाएँ, अर्थी के आगे झुकना, मृतक पूर्वज के चित्र पर माला इत्यादि कर्म वैदिक हैं या अवैदिक? इन कार्यों से ही तो पौराणिकता पनपती है। ऐसे अनेक कार्य हैं जो स्वयं निर्दोष होने पर भी अन्य सदोष कार्यों को जन्म दे देते हैं। अतः ऐसे कार्यों में अति सावधानी की आवश्यकता है।

महात्मा हंसराज जी के जीवन के कुछ अंतरंग संस्मरण

● महात्मा आनन्द स्वामी

दयानन्द कॉलेज को जीवन अर्पण कर देने के बाद महात्मा हंसराज जी को इतना काम करना पड़ा कि स्वास्थ्य गिरने लगा, शरीर दुबला हो गया, रंग पीला, हल्का–हल्का बुखार भी रहने लगा। एक दो डाक्टरों ने यहाँ तक कहा कि यदि यही अवस्था रही तो कुछ ही दिनों में तपेदिक हो जाने का भय है। महात्मा जी के मित्रों और सम्बन्धियों ने जब यह सुना तो, उन्हें चिन्ता हुई। पहले अलग–अलग, फिर इकट्ठे होकर उन्होंने उनसे कहा कि वह कुछ महीनों के लिए कॉलेज का काम छोड़कर किसी पहाड़ पर चले जाएँ। महात्मा जी ने अपने परामर्शदाताओं की सब युक्तियाँ सुनीं, परन्तु उत्तर दिया, "मैं अपना जीवन बचाने के लिए किसी पहाड़ पर नहीं जा सकता। अपने काम को छोड़ नहीं सकता क्योंकि यह जीवन तो मेरा है ही नहीं, मैं तो पहले ही इसे दयानन्द कॉलेज को सौंप चुका हूँ। अब यह रहे या न रहे, मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं।"

***

महात्मा जी अपने मित्रों, संबंधियों और आर्यसमाज के सदस्यों में, अत्यधिक व्यस्त रहने के बावजूद, इतनी दिलचस्पी लेते थे कि उसका उदाहरण नहीं मिलता। लाला धनीराम भल्ला बतलाते हैं कि आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में वे चुपचाप एक ओर बैठे रहते और सबको देखते रहते कि किसी का स्वास्थ्य तो नहीं बिगड़ रहा। एक दिन उन्होंने लाला धनीराम भल्ला को सत्संग के बाद अपने पास बुलाया और कहा, "मैं कितने ही दिनों से देख रहा हूँ, आपकी सेहत अच्छी नहीं। आप कमज़ोर हो रहे हैं। आप व्यायाम किया करें।"

***

महात्मा जी कितने हँसमुख थे, इसकी एक झाँकी इस घटना में है। लाला लालचन्द जी का देहांत हो गया। महात्मा जी को उनसे बहुत प्रेम था। किसी ने पूछा, "लाला लालचन्द की जी मृत्यु का कारण क्या है?" महात्मा जी बोले, "वह हँसते न थे !"

***

महात्मा जी को अपने विद्यार्थियों से बहुत प्यार था। गरीबी के दिनों में भी वे इन लड़कों को अपने घर बुलाते। उन्हें आर्यसमाज का संदेश सुनाते और जब 'अतिथि सत्कार' का समय आता तो और कुछ न होने पर उबले आलू ही नमक लगा–लगाकर खिलाया करते।

***

महात्मा जी के पास एक नौकर था–लटूरिया। वह कई बरसों तक उनके पास रहा। नौकरी के पहले दिनों में उससे कोई भूल बन पड़ी तो बलराज जी ने उसे तमाचा मारा। महात्मा जी को पता लगा तो, उन्हें दुःख हुआ। बलराज जी ने कहा, "लेकिन वह मूर्ख है; उसे कोई अक्ल ही नहीं!"

महात्मा जी ने गंभीरता से कहा, "बलराज ! यदि उसे अक्ल होती तो वह तुम्हारे घर वर्तन माँजने की नौकरी न करता। किसी कॉलेज का प्रिंसिपल होता !"

***

पंडित नानकचंद जी बैरिस्टर जब पढ़ते थे तो महात्मा जी की निर्धनता और सादगी देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही। एक दिन पंडित जी महात्मा जी से मिलने उनके घर गए तो देखा कि आधी फटी हुई, परन्तु, बिल्कुल साफ धुली हुई कमीज पहने खड़े हैं।

इसी तरह एक बार उनकी आँख पर चोट लगी, भाई परमानन्द वहीं थे। डाक्टर आया। पट्टी बाँधने के लिए थोड़ा कपड़ा माँगा तो महात्मा जी के घर से फटे कपड़े का टुकड़ा तक नहीं मिला।

***

महात्मा जी बीमार थे तो लाला देवीचंद उनके पास गए। महात्मा जी ने उनसे कहा, "मैं बहुत बीमार नहीं हूँ; जरा कमज़ोर हो गया हूँ। थोड़ी ताकत आते ही मैं आर्यसमाज बागबानपुरा में भाषण देने चलूँगा। मैंने उनके साथ वायदा किया हुआ है।" लालाजी ने कहा, "बीमारी हट जाने के बाद भी आपको काफी दिनों तक आराम करना पड़ेगा। आप बागबानपुरा का भाषण देने का विचार छोड़ दीजिए !"

महात्मा जी बोले, "भगवान को क्या मंजूर है, यह मैं नहीं जानता परन्तु यदि मेरा बस चला तो, मैं अपना वायदा ज़रुर निभाऊँगा।"

***

महात्मा जी के श्रद्धालु कई तरह के उपहार उनके लिए लाया करते। महात्मा जी वे सब कॉलेज को दे देते। एक बार एक मित्र उनके लिए आगरे के संगमरमर का एक सुंदर कलमदान लाए और शाम को उनके घर रख आए। महात्मा जी घर में नहीं थे इसलिए उन्हें मिलने दूसरे दिन कॉलेज में गए तो देखा कि वह कलमदान कॉलेज के मेज पर पड़ा है।

आर्यसमाज के उत्सव पर एक सज्जन ने उन्हें चाय का एक बंडल और कुछ बादाम दिए। महात्मा जी ने ये सब वहीं बाँट दिए। महात्मा जी ने अपनी लंबी आयु में एक बार भी सिनेमा नहीं देखा। एक बार बलराज ने उनसे कहा, "अगर आप को भीड़भाड़ में सिनेमा देखने में झिझक हो तो, मैं यह प्रबंध करवा सकता हूँ कि केवल आपके लिए ही एक शो करवा दूँ।"

महात्मा जी ने सदा की तरह इन्कार करते हुए कहा, "सिनेमा में चलती–फिरती तस्वीरें ही तो होती है। जब मैं आप लोगों को चलते–फिरते देखता हूँ, फिर सिनेमा देखने की जरूरत क्या है?"

***

लाला पोलोराम जी ने एक घटना सुनाई कि जब वह डाकखाने में नौकर थे तो नकदी में से कुछ रुपए कम हो गए। लालाजी शाम के समय उदास से घर लौट रहे थे तो राह में महात्मा जी मिल गए। उन्होंने उदासी का कारण पूछा तो, लालाजी बोले, "कुछ रुपए कम हो गए हैं। कई बार हिसाब की जाँच की है, रुपया गिना है, लेकिन वह पूरा नहीं होता।" महात्मा जी बोले, "कल सुबह दस बजे से आध घंटा पहले चले जाना, फिर पड़ताल करना। अगर रूपया पूरा न हो तो अपने पास से डाल देना, नकदी को कम न होने देना।"

दूसरे दिन लाला पोलोराम जी ने फिर हिसाब देखा, परंतु रुपया पूरा नहीं हुआ। उसी समय दयानन्द कॉलेज का चपरासी महात्मा हंसराज जी की धर्म–पत्नी श्रीमती ठाकुर देवी की डाकखाने की पास बुक और हस्ताक्षर हुआ एक खाली फार्म लेकर उनके पास आया। इसके साथ ही महात्मा जी का पत्र भी था, लिखा था, 'जितना रुपया कम हो, वह इस फार्म द्वारा डाकखाने से निकलवा कर पूरा कर लेना।"

***

लाला दीवानचंद जी लिखते हैं:

महात्मा जी व्यापारी मनोवृत्ति के आदमी थे। जिस अवस्था में हों, उसके अनुसार कार्य करते। कालिज में वह प्रिंसिपल हैं और घर में लाला हंसराज। घर में प्रिंसिपल नहीं और कालिज में लाला हंसराज नहीं। घर में प्रत्येक व्यक्ति उनके पास जा सकता था। पहले वह धरती पर ही आसन जमा कर बैठते, बाकी सब भी उनके साथ ही बैठते। बाद में वह एक तख्तपोश पर बैठने लगे और आन वाले भी वहीं बैठते अथवा काठ की पीठ वाली आधी टूटी कुर्सियों पर। कॉलेज में वे प्रिंसिपल थे, उनका रौब कमरे से बाहर भी दूर–दूर तक झलकता था। विद्यार्थीकाल में मैं 'आर्य गजट' का उप–सम्पादक था। महात्मा जी और लाला लाजपतराय संपादक थे। मैं युवक समाज का मंत्री भी था इसलिए उनके पास आने–जाने की मुझे विशेष सुविधा थी। बी.ए. में पढ़ता था कि एक दिन मुझे यूनिवर्सिटी कैलेण्डर देखने की आवश्यकता हुई मेरे माँगने पर उन्होंने उठाकर दे दिया और मैं उसे वहीं खोलकर देखने लगा।"

महात्मा जी बोले, "बाहर जाकर देखो।"

मैंने अपनी भूल अनुभव की और कैलेण्डर लेकर बाहर निकल गया। उस समय मुझे ख्याल न था कि मुझे भी कभी कॉलेज का प्रिंसिपल बनने का अवसर मिलेगा लेकिन अब मैं यह अनुभव करता हूँ कि महात्मा जी की उस डाँट और व्यवहार ने मुझे अपने जीवन में बहुत सहायता पहुँचाई है।

***

बलराज जी लिखते हैं:

महात्मा जी का स्वभाव था कि वे प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में जागकर चारपाई पर बैठे हुए ही गाते रहते थे। वे प्रायः दो भजन गाया करते थे।

(1) उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।

(2) हे जगत् स्वामी प्रभु जी भेंट धरूँ मैं क्या तेरी।

कभी–कभी वे कोई और भी भजन गाते थे। उनमें निम्नांकित टेक वाला भजन प्रायः सुना जाता था–

तुम हो प्रभु चाँद मैं हूँ चकोरा,

तुम हो कमल फूल मैं रस का भौंरा।

ऋग्वेद का एक मंत्र उन्हें अत्यन्त प्रिय था और कई बार उसका जप किया करते थे। कभी–कभी तो आध–आध घण्टा तक उसी मंत्र का जाप करते रहते थे। वह मंत्र निम्नलिखित है–

यदंग दाशुषे त्वम् अग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमंगिरः।

***

शेष पृष्ठ 07 पर ☞

देश की जागृति में आर्यसमाज का स्थान

● एक सनातनी ब्राह्मण

हमारे देश और समाज की वर्तमान उन्नति में आर्य–समाज का महत्त्व अविवादास्पद है। इस संस्था ने अपने महान् आदर्श, अक्लान्त परिश्रम, विशाल औदार्य और अनुपम त्याग से सारे हिन्दू समाज का हृदय अधिकृत कर लिया है। प्रारम्भ में जिन असह्य कष्टों का सामना उसे करना पड़ा, देशव्यापी धर्मध्वजियों के जो निन्दा वाक्य सुनने पड़े, जिन अप्रतिहत विरोधों के विरुद्ध घोर संग्राम में निरत होना पड़ा, उन सब बातों को भूलकर आज वह सारे देश को, हिन्दू–धर्म सम्बन्धी समस्त समाजों को प्रेम से गले लगा रहे हैं। इस निः स्वार्थ उदारता की जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है।

आर्य समाज के प्रवर्त्तक पूज्य स्वामी दयानन्द ने उस समय जन्म लिया जिस समय हिन्दू–जाति सदियों के धार्मिक अत्याचार से तंग आकर ईसाई मिशनरियों की मोहक प्ररोचना से भरी चिकनी चुपड़ी बातों की कुहक में भूलकर अपने युग–युग–संचित सनातन विश्वासों को तिलांजलि देने पर तुली हुई थी। इस विनाशकारी शिथिलता से उसकी रक्षा करके उसे पुनः मर्यादा में लाकर बाँधना परमावश्यक हो गया था पर वास्तविक हिन्दू–धर्म के पतन और उसके झूठे धर्म नायकों के अन्याय और अन्धेर के कारण यह असम्भव–सा हो गया था। ऐसी स्थिति में एक ऐसे प्रतिभाशाली वीर नेता की आवश्यकता थी, जो देश, काल और स्थिति का ख्याल रखकर हिन्दू–धर्म का पुनःसंस्कार करके और समय के प्रवाह में बह जानेवाले समाज को – फिर से नए रूप में सनातन, शाश्वत धर्म के अनादि चक्र में आनयन करे। बंगाल में राजा राममोहन राय ऐसी ही घोर परिस्थिति में उत्पन्न हुए थे पर अशिक्षान्धकार से ग्रस्त जाति की जड़ में पैठकर उसे पूर्णतया सचेत करने की शक्ति उनमें नहीं थी। उनका सुधार विशेषतः बौद्धिक सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित था इसलिए इने–गिने शिक्षित लोग ही उसमें दीक्षित हो सकते थे पर स्वामी दयानन्द का लक्ष्य बहुत दूर और आदर्श अत्यन्त विशाल था। वे देश की साधारण जनता का मूलगत सुधार चाहते थे, केवल सुसंस्कृत समाज का नहीं। ब्राह्मण समाज प्रतिष्ठित होने के कुछ ही समय बाद उन्होंने आर्य समाज का प्रचार आरम्भ कर दिया। उन्होंने अपने नए मत की भित्ति इस ढंग से स्थापित की कि वह मूल हिन्दू–धर्म (अर्थात वैदिक धर्म) के आधार पर स्थित रहने पर भी सर्वसाधारण के लिए उपयोगी हो सके। जिन घोर कठिनाइयों के विरुद्ध उन्हें संग्राम करना पड़ा उसके लिए वे पहले से ही तैयार थे। जिस अटल विश्वास से प्रेरित होकर वे समरागंण में कूदे थे, वह किसी भी बाधा से विमुख होने वाला नहीं था। धीरे–धीरे सत्य की जीत होने लगी। जनता को उनके सदुद्देश्य पर विश्वास होने लगा और 1875 की 10वीं अप्रैल को बम्बई में आर्य समाज की सर्वप्रथम संस्था का स्थापन हो गया। इसके बाद धीरे–धीरे समस्त देश में न्यूनाधिक परिमाण में स्वामी जी के जीवन काल में ही उनके नए मत का प्रचार हो गया। यद्यपि उनके मतावलम्बियों की संख्या भारत के अगाधजन–समुद्र की तुलना में इस समय भी नगण्य ही है, तथापि उनके आर्यधर्म का 'Spirit' प्रत्येक हिन्दू के रग–रग में व्याप्त हो गया है। स्वामी जी यही चाहते थे और उनके आदर्श को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई, यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी।

जिन मूलगत उद्देश्यों को लेकर आर्य–समाज स्थापित हुआ था, उसका परिचय बम्बई में प्रथम घोषित किए गए नियमों से मिलता है। उदाहरण–स्वरूप उनमें से कुछ हम नीचे उद्धृत करते हैं–

1. आर्य–समाज केवल वेदों को ही पूर्णतः प्रामाणिक मानेगा।

2. प्रत्येक प्रान्त में एक मुख्य आर्य–समाज प्रतिष्ठित होगा और अन्य आर्य समाज–संस्थाएँ उसकी शाखाएँ होंगी।

3. मुख्य आर्य समाज अपने पास वेद–विषयक विभिन्न ग्रन्थ संस्कृत तथा आर्यभाषा (हिन्दी) में रखेगा और उनके द्वारा सत्य तथा वास्तविक ज्ञान का प्रचार करेगा। 'आर्य–प्रकाश' नामक एक साप्ताहिक मुख पत्र भी वह निकालेगा।

4. देश की सर्वांगीण उन्नति के उद्देश्य से आर्य समाज आध्यात्मिक तथा सांसारिक दोनों प्रकार के धर्मों पर समानरूप से ध्यान देगा। समस्त मानव–समाज का हित ही उसका आदर्श होगा।

5. स्त्री और पुरुष दोनों जातियों में शिक्षा के प्रचार की चेष्टा की जाएगी। स्त्री–विद्यालयों में स्त्री–अध्यापिकाएँ नियुक्त की जाएँगी और पुरुष 'विद्यालयों में पुरुष।

बीस से भी अधिक नियम रचे गए थे। हमने केवल कुछ विशेष–विशेष नियमों को ही पाठकों की जानकारी के लिए उद्धृत किया है। उक्त नियमों को पढ़ने से पाठकों को मालूम हो जाएगा कि स्वामी जी का लक्ष्य कितना गहरा और आदर्श कैसा विशाल था। दो बातें इनमें विशेष ध्यान देने योग्य हैं– एक तो यह कि झूठी आध्यात्मिकता की वेदी पर स्वामी जी ने मनुष्य के सांसारिक कर्त्तव्यों की बलि नहीं होने दी है। अनेक युगों की तामसिकता के अन्धमोह से आच्छन्न हिन्दू–जाति के इस नए युग में पहले–पहल स्वामी जी ही एक ऐसे धार्मिक नेता हुए हैं, जिन्होंने जीवन–संग्राम में 'कर्तव्य–कर्म को धर्म का एक मुख्य अंग माना है। इसके बाद स्वामी विवेकानन्द और तत्पश्चात् लोकमान्य तिलक ने उनके इस मत का अनुसरण किया है। सांसारिक कर्मों पर विशेष जोर देने का ही यह फल था कि आज आर्य–समाज देश को समाज–सम्बन्धी वास्तविक उन्नति के पथ पर ले जाने में समर्थ हुआ है। ब्राह्म–समाज और आर्य–समाज की मूलगत विभिन्नता यहीं पर पायी जाती हैं। ब्राह्म–समाज ने कोरे ज्ञान को अपनाया है इसलिए देश के नव–जागरण–आन्दोलन में उसका स्थान प्रायः कुछ नहीं के बराबर है।

दूसरी बात ऊपर निर्दिष्ट नियमों में मनन–योग्य यह है कि आर्य–समाज ने समस्त मानव–जाति के हित को अपना आदर्श माना है। स्वामी जी रवीन्द्रनाथ की तरह न तो अंग्रेजी ही पढ़े थे और न कभी पाश्चात्य जगत् से संश्लिष्ट ही रहे। इस असुविधा के होते हुए भी Cosmopolitan (विश्वजनीन) धर्म की जो यह प्रवृति उनमें स्वतः जागृत हो गयी थी, वह उनके अन्तस्तल की गहराई का परिचय देती है। 'सत्यार्थप्रकाश' में अपने इस मत को स्वामीजी ने और भी स्पष्ट रूप में समझाया है। वे कहते हैं–"मैं ऐसे धर्म पर विश्वास करता हूँ जो विश्वजनीन तथा सर्वग्राह्य सिद्धान्तों पर स्थित हो और जो सर्वकाल में समस्त मानव समाज द्वारा मान्य हो। मेरा उद्देश्य किसी भी नए धर्म की स्थापना करने का नहीं है।"

हम पहले ही कह चुके हैं कि आर्य–धर्म बौद्धिक (intellectual) सिद्धान्तों पर उतना निर्भर नहीं करता जितना व्यावहारिक (practical) सिद्धान्तों पर, इसलिए ज्ञान की दृष्टि से स्वामी जी के सिद्धान्त अधिक महत्व के नहीं है। देश को इस कर्म–युग में जटिल, निगूढ़ आध्यात्मिक तत्वों की विशेष आवश्यकता भी नहीं है। कुछ भी हो, पाठकों की अभिज्ञता के लिए हम स्वामी जी के धर्म–सम्बन्धी–विश्वासों का संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं। स्वामी जी का धर्म विशुद्ध वैदिक है। उनकी राय में चार वेद (वैदिक संहिता–केवल मन्त्र–भाग) समस्त दोष–विवर्जित, अखण्ड और अनादि हैं। ईश्वर की निखिल सृष्टि के साथ ही साथ उनकी भी सृष्टि हुई है–मनुष्य उनका रचयिता नहीं है। उपनिषदों का यह मत कि आत्मा ही ब्रह्म है (शंकराचार्य ने जिसकी प्रेरणा से अपने को **'चिदानन्दरूपों शिवोऽहं शिवोऽहम्'** कहा है) स्वामी जी भ्रान्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि ब्रह्म आत्मा से बिल्कुल भिन्न है। आत्मा न निर्लिप्त है, न मुक्त। वह सुख–दुःख का भोक्ता उसी को बतलाते हैं तथापि उनकी राय में आत्मा अनादि है। ईश्वर और आत्मा का सम्बन्ध उनकी दृष्टि में ऐसा है, जैसे व्यापक और व्याप्य का, भोक्ता और भोज्य का, पिता तथा पुत्र का। ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति इन तीनों को वे अनादि बतलाते हैं। ब्रह्म निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापी, सर्वद्रष्टा, अनादि और अनन्त है। वही एक देवता है, उसके अतिरिक्त और देवी–देवता नहीं हैं। आत्मा सुख–दुःख का भोक्ता है और प्रकृति पार्थिव जगत् की सृष्टि–कारिणी है। वर्णाश्रम धर्म जन्म से ही निर्धारित नहीं हो जाता, संसार में पैदा होकर कर्मानुसार प्रत्येक के वर्ण का निर्णय होता है, यज्ञ धर्म का मुख्य अंग है, अग्नि मनुष्य ईश्वर के परम प्रकाश को व्यक्त करती है, होम से वायु शुद्ध होती है, इसलिए वह कर्त्तव्य है। आर्य–धर्म का मूल–भाव इन सब बातों के अन्तर्गत आ जाता है।

स्वामीजी ने वेद, ब्रह्म, प्रकृति और आत्मा के सम्बन्ध में जिन बातों को स्वयंसिद्धि के बतौर मान लिया है, उन पर यथेष्ट तर्क चल सकता है पर इस लेख में हमारा उद्देश्य आर्य–धर्म के ज्ञान–सम्बंधी मतामत पर विवाद करने का नहीं है। हम केवल यही दिखाना चाहते हैं कि जिस 'स्पिरिट' को लेकर उक्त धर्म गठित हुआ है, वह अत्यन्त महत् और सार्वजनिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। सब वर्णों को

समानाधिकार के समतल में लाकर स्वामी जी ने मनुष्यता के उच्च आदर्श का अभिनन्दन किया है। हिन्दू–समाज की ब्राह्मणेतर जातियों में जो Inferiority complex (आत्महीनता का भाव) वर्तमान था उसके बहुत कुछ विदूरित हो जाने से जो उपकार देश का हुआ है वह अकथनीय है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य सभी वर्गों के लोग हमारे यहाँ मनुष्य ही नहीं समझे जाते थे। स्वामी जी ने उन्हें सुझाया कि तुम भी पुरुष हो, तुममें ईश्वर का जो प्रकाश है, वह किसी ब्राह्मण से कुछ कम नहीं है। यह चेतावनी काम कर गयी और जड़ता–ग्रस्त समाज में प्राण की संजीवनी संचारित होने लगी।

हिन्दू–धर्म में संसार के अन्यान्य धर्मों से एक यह आत्मनाशी विशेषता थी कि जो व्यक्ति जन्म से ही हिन्दू नहीं होता था, वह किसी काल में भी हिन्दू नहीं हो सकता था। अन्य धर्मों के प्रवर्त्तकों ने विभिन्न मतावलम्बियों को अपने धर्म में दीक्षित करने का सतत प्रयत्न किया है। बुद्ध, ईसा और मुहम्मद ने छल, बल और कौशल से अपने मतानुयायियों की संख्या बढ़ायी है। कोई व्यक्ति किसी भी धर्म या मत का माननेवाला हो, वह उक्त तीनों धर्म–प्रवर्त्तकों में से किसी का भी पन्थ ग्रहण करने को स्वतन्त्र है। मुसलमान नेता हिन्दू अथवा ईसाइयों को मुसलमान बना सकते हैं, ईसाई पादरी किसी हिन्दू अथवा मुसलमान को अपने धर्म में ले सकते हैं पर स्वामी दयानन्द के समय से पहले कोई भी हिन्दू कभी किसी विधर्मी को अपने धर्म में लेने का साहस या इच्छा नहीं करता था ! जन्म से ही कोई व्यक्ति हिन्दू कहलाने के योग्य होता था, शुद्धि से नहीं। यह प्रवृत्ति घोर आत्मघाती थी। महाभारत के युग तक हिन्दूधर्म में अनेक विधर्मी दीक्षित हुए, सन्देह नहीं; पर इसके बाद 'म्लेच्छों' के विरुद्ध अपनी 'रक्षा' करने के लिए एक जबर्दस्त चारदीवारी हम लोगों ने खड़ी कर दी थी। स्वामीजी ने देखा कि इससे जाति अत्यन्त दुर्बल पड़ती जाती है। उन्होंने शुद्धि पर जोर दिया। उनकी मृत्यु के बाद अनेक राजपूत मुसलमान हिन्दू धर्म में पुनः दीक्षित किए गए और आज हम देखते हैं कि लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द आदि प्रमुख आर्य समाजी नेताओं की बदौलत शुद्धि आन्दोलन ने कैसा जोर पकड़ लिया है..... और इससे हमारी जाति में कितना बल आ गया है। स्वामी श्रद्धानन्द तो इस महत् उद्देश्य के कारण शहीद ही हो चुके।

यह लिखा जा चुका है कि बम्बई में 1875 में आर्य–समाज के जो नियम निर्धारित किए गए, उनमें शिक्षा का प्रचार भी एक था। इसके बाद 1877 में लाहौर में वे नियम स्थायी रूप से निर्दिष्ट कर दिए गए और उनकी संख्या दस कर दी गयी। प्रत्येक आर्य–समाजी ईसाइयों Commandment की तरह इन दस नियमों का पालन करना अपना मुख्य कर्त्तव्य समझता है। शिक्षा–प्रचार का नियम भी स्थायी रखा गया। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को अपनी आय का सौवाँ भाग समाज की प्रान्तीय संस्था को देने का नियम भी स्थिर हुआ। इस दान के नियम से यह लाभ हुआ कि समाज को अपने प्रचार कार्य में कठिनाई नहीं उठानी पड़ी और उसका संगठन बड़ा जबर्दस्त और सुदृढ़ हो गया है। देश में शिक्षा का प्रचार भी वह इस कारण बहुलता से करने में समर्थ है। कोई नगर ऐसा नहीं है जहाँ आर्य–समाज–संस्था तथा आर्य–समाज–विद्यालय न हो। तारीफ की बात यह है कि ये संस्थाएँ केवल आर्य–समाजियों के लिए नहीं है, प्रत्येक हिन्दू उनमें बेरोक–टोक प्रवेश करता है और लाखों बालक तथा बालिकाएँ उनके विद्यालयों से लाभ उठा रही हैं। प्रत्येक संस्था के साथ एक–एक सार्वजनिक लाइब्रेरी खोली जाती है। इन सब कारणों से आर्य–समाज दिन–दिन देश के स्त्री–पुरुषों के हृदयों पर अपना अधिकार कायम करता जाता है। उसकी इस विशाल उदारता की प्रशंसा दो–एक शब्दों में नहीं हो सकती। प्रारम्भ में सनातनियों तथा समाजियों के बीच जो खींचातानी चला करती थी, उसका अब लेश भी वर्तमान नहीं है और प्रत्येक सनातनी हृदय से आर्य समाज की कार्य–प्रणाली को सराहता है। इस दलबन्दी को हटाने और परस्पर एकता स्थापित करने का श्रेय भी आर्यसमाजियों को ही है। उनकी उदारता ने कट्टर सनातनियों को भी द्रवीभूत कर दिया है।

जगह–जगह अनाथालयों तथा महिला–आश्रमों की स्थापना आर्य–समाज ने अनेक हतभाग्य, निकम्मे बुभुक्षितों को मनुष्य बनाकर कर्त्तव्य–पथ पर ला दिया है और अत्याचार पीड़िता, असहाय, धर्षिता नारियों को शरण में लाकर, सान्त्वना देकर पुनर्जीवन प्रदान किया है। अकाल–पीड़ितों तथा रोगियों की सेवा में कभी उसने त्रुटि नहीं की।

राजनीति में भी आर्य–समाज कभी पीछे नहीं रहा। लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानन्द, भाई परमानन्द सरीखे आदर्श नेताओं की निःस्वार्थ देशसेवा से करोड़ों देशवासियों को जो प्रेरणा प्राप्त हुई है, उसकी क्या तुलना हो सकती है? बंग–भंग के अवसर पर जिस राष्ट्रीय आंदोलन ने समस्त देश को सचेत कर दिया था, उसके सम्बन्ध में सर वेलेण्टाइन शिरोल ने एक रिपोर्ट विलायत के 'टाइम्स' पत्र में प्रकाशित करायी थी। उसमें एक स्थान पर वे कहते हैं–

"That the Arya Samaj which shows the impress of Western influence in so much of its social work should at the same time have associated against the British is one of the many anomalies presented by the problem of Indian unrest." अर्थात् "जो आर्य–समाज अपने समाज–सुधार आन्दोलन में पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव प्रदर्शित करता है, उसका भी ब्रिटिश लोगों के विरुद्ध हो जाना वर्तमान भारतीय अशान्ति की विचित्रता का एक नमूना है।"

पर शिरोल महाशय जैसा समझे हैं, बात यथार्थ में वैसी नहीं है। लाला लाजपतराय ने इस उक्ति के विरुद्ध सफाई में अपनी तरफ से कुछ दलीलें पेश की थीं। आर्य–समाज ब्रिटिश जाति या शासन के विरुद्ध प्रणोदित होकर नहीं, केवल विशुद्ध देशसेवा के भाव से प्रेरित हुआ है।

आर्य–समाज ने देश की वर्तमान जागृति में जो भाग लिया है, हमने इस लेख में संक्षिप्त रूप से उसे प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। अन्त में हम पुनः अपनी इस पूर्वोक्ति को दुहराकर विदा होते हैं कि आर्य समाज का प्रवर्त्तन भारत की उन्नति के इतिहास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना है।

{मासिक विश्वभित्र अक्टूबर 1932 से उद्धृत)

प्रेषक–दयाराम पोद्दार मंत्री छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा, राँची (बिहार)

☞ पृष्ठ 05 का शेष

महात्मा हंसराज जी के जीवन ...

जब कभी महात्मा जी कहीं जाने लगते थे तो घर के बाहर मोटर में बैठते समय **"ओ3म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्नआसुव।"** मंत्र पढ़ा करते थे। जब कभी आप का कोई बन्धु कहीं बाहर जाने लगता तब भी आप उसे मोटर में बैठाते समय इसी मंत्र को बोला करते थे।

***

महात्मा जी प्रातःकाल ठोस डम्बलों से व्यायाम किया करते थे। जब आपकी अवस्था अधिक वृद्ध हो गई तो आप डम्बलों के बिना ही बलपूर्वक मुट्ठियों को बन्द करके व्यायाम कर लेते थे।

यह व्यायाम आप अन्तिम रोग के दिन 27 अक्टूबर 1938 तक करते रहे। जब कभी वर्षा आदि के कारण आप भ्रमणार्थ बाहर न जा सकते, घर में ही घूम लिया करते।

महात्मा जी ने अपने सारे विद्यार्थी जीवन में परीक्षा के निमित्त कभी संस्कृत का विषय नहीं लिया और न ही संस्कृत पढ़ी। आप बी.ए. के विद्यार्थियों को लेकर आर्यसमाज में आने जाने लगे और समाज में प्रविष्ट होने के अनन्तर आपने वहीं पर संस्कृत सीखनी आरम्भ की। उन दिनों संस्कृताध्ययन के प्रति आर्य सज्जनों को श्रद्धा तथा रुचि थी। लाला साईंदास जी भी, यद्यपि वे उच्च सरकारी पद धारण किए हुए थे, रात्रि के समय समाज में 'जाकर 'अष्टाध्यायी' पढ़ा करते।

***

महात्मा जी ने शिक्षा प्रसार का कितना काम किया, इस तथ्य के होते हुए भी लाला मुल्कराज जी द्वारा बताई हुई निम्न घटना बहुत मनोरंजक है। महात्मा जी को जब एक बार स्कूल में जाने के लिए कहा गया तो आप ने कहा कि मैं नहीं पढूँगा। लालाजी के जोर देने पर आप फिर उसी बात पर अड़े रहे और कहा कि 'चाहे कुछ भी हो, पर मैंने पढ़ना नहीं है।' तदनन्तर लालाजी ने बलात् उन्हें स्कूल में भेज दिया और एक दो मास के परिश्रम से ही महात्मा जी ने वह परीक्षा अच्छी पोजीशन लेकर उत्तीर्ण की। इस पर आपके हैडमास्टर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और प्रसन्न होकर उन्होंने महात्मा जी को एक पारितोषिक दिया।

महात्मा जी की रुचि वेद, उपनिषद् और भगवद्गीता के अध्ययन में अधिक थी। पण्डित राजाराम जी द्वारा सम्पादित तथा अनुदित श्रीमद्भगवद्गीता 1914 में पढ़ी थी। तब महात्मा जी ने वह पुस्तक 'इन्टरलीव' (हर पन्ने में एक कोरा पन्ना रखना) करवाकर अपने पास रख ली थी। पुस्तक का अध्ययन आप बाद में पीछे करते रहे। वह पुस्तक अब मेरे पास है। उस पर बहुत कुछ लिखा तो नहीं है। एक दो स्थलों पर ही कुछ थोड़ा–सा लिखा है पर यह इस बात को दर्शाता है कि गीता के अध्ययन में आप की विशेष रुचि थी।

***

क्रमशः

वैदिक प्रार्थनाओं की ओजस्विता

● श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

{स्वर्गीय श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर इस युग के लब्धप्रतिष्ठ वेदज्ञ थे जिन्होंने महर्षि दयानन्द की प्रेरणाओं को स्वीकार करके घोषित किया कि वेद की ऋचाएँ मानव वीरोचित कर्त्तव्यों के लिए हमें अनुप्रमाणित करती हैं। सातवलेकर जी का यह लेख, उनकी उन कतिपय रचनाओं में से एक है। इसी लेख के कारण पंडितजी गिरफ्तार किए गए थे और 'विश्ववृत्त' के सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक को ढाई–ढाई साल की सज़ा हुई थी। –सम्पादक}

कुछ कमजोर वृत्ति के लोग इस बात का प्रचार करते हैं कि **"शत्रु हमें कितना भी दुःख दें अथवा हानि करें, उसकी ब्याज सहित भरपाई न करके अथवा उसका बदला न लेकर न्याय के दिन की प्रतीक्षा करते हुए और मक्खी मारते हुए हम आराम से बैठे रहें।"** कई लोगों का यह भी विचार है कि इस तरह की कमज़ोरी भी एक सद्गुण ही है पर एक अनुभवशील और वेदोपदेश का अनुगामी कभी यह नहीं कहेगा। उसकी दृष्टि में तो उपर्युक्त कथन मनुष्य के लिए विनाशक ही है।

हम यदि अपने देदीप्यमान प्राचीन इतिहास की तरफ नज़र फेंकें, तो यह इतिहास हमें वैदिक उपदेशों की ओजस्विता से सराबोर ही दिखाई देगा। स्वार्थी, अधार्मिक, नास्तिक और आततायी वेन राजा को मारते समय तत्कालीन ऋषियों ने वेन को दंड देकर न्याय करने का भार परमेश्वर पर न सौंप कर अपने हाथों में ही ले लिया था। स्वराज्य का हरण करके पारतंत्र्य के घोर नरक में पिसने मरने के लिए धकेलने वाले तथा दूसरों के पदार्थों को हथियाने वाले दुष्ट शत्रुओं को तहस–नहस करके पुरुषार्थ से स्वराज्य कायम करने के लिए अपने पुत्र को वीरोचित उपदेश देने वाली विदुला और उसका इतिहास लिखने वाले व्यास ने जो वैदिक आदर्श अपने सामने रखा था, वह कमज़ोर वृत्ति और अधार्मिक वृत्ति के मक्खी मारते हुए चुपचाप बैठे रहने वाले सिद्धान्त से बिलकुल भिन्न था। भाग्य पर भरोसा रखकर चुपचाप बैठे रहने वाले भाग्यवादी राम को "उद्यम, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि और पराक्रम–ये छह सद्गुण जिसके अन्दर होंगे, उसे इस त्रिभुवन में कुछ भी अप्राप्य नहीं है।" कह कर अपनी ओजस्वी वाणी से उपदेश देकर परम पुरुषार्थी बनाने की इच्छा करने वाले महर्षि वसिष्ठ ने जिन आत्मविश्वास के तत्त्वों का सब लोगों के उद्धार करने के लिए प्रतिपादन किया, वह केवल इसलिए नहीं किया कि लोग आपत्काल में चुपचाप बैठे रहें। श्रीकृष्ण भगवान् ने सब वैदिक सिद्धान्तों का सार निकाल कर और उपनिषदों का मंथन करके जो भगवद्गीता रूपी मक्खन निकाला और उसे गीता के द्वारा स्वराज्य भ्रष्ट होकर भी आनन्द मानकर जंगल में जाकर कन्दमूल खाकर रहने की इच्छा करने वाले अर्जुन को "उठ, अपने शत्रुओं और उनकी मदद करने वाले गुरुओं को भी मार, कमज़ोरी छोड़ और युद्ध की तैयारी कर" आदि जो उपदेश दिए, वह इसलिए नहीं कि लोग शत्रु के द्वारा दिए गए संकटों को आराम से बैठे सहते रहें अपितु यह उपदेश इसके लिए ही है कि शत्रु को बिल्कुल तहस–नहस कर दिया जाए।

अपनी रक्षा करना, स्वावलम्बी बनना, अपना अपमान न होने देना और अपनी उन्नति करना आदि बातों का समावेश मनुष्यों के सामान्य धर्म में होता है। **"सर्वतः आत्मानं गोपायीत"** इस श्रुति में आत्मरक्षण का प्राधान्य वर्णित है। इसी आधार पर स्मृतिकारों और धर्मशास्त्रकारों ने यह सिद्धान्त निश्चित किया था कि आततायियों को मारने में कोई पाप नहीं है और इसीलिए आततायी का वध करने वाले के लिए किसी प्रकार के प्रायश्चित की भी आवश्यकता नहीं है। धर्म शास्त्रों का कथन है–

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः।।
(विष्णु स्मृति)

पिशुनं चैव राजसु। (कात्यायनः)

उद्यतानां तु पापानां हन्तुर्दोषो न विद्यते।
(कात्यायनः)

शस्त्रं द्विजातिभिग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
(कात्यायनः)

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।।
(मनुस्मृति)

"अग्नि से जलाने वाला, विष पिलाकर मारने वाला, शस्त्र से घात करने वाला, धन का अपहरण करने वाला, देश का अपहरण करने वाला, स्त्रियों को भगा ले जाने वाला, राजा से चुगली करने वाला–ये सभी आततायी हैं। ऐसे प्रबल पापियों को मारने वाले को कोई पाप नहीं लगता। उनका विनाश करने के लिए जब क्षत्रिय और वैश्य तैयार न हों, तो उस समय ब्राह्मण ही हाथों में शस्त्र धारण करके धर्म की रक्षा करे। उपर्युक्त आततायी यदि सामने से आते दिखाई पड़ें तो बिना किसी सोच विचार के उनको मार दे। उनके वध से वध करने वाले को किसी प्रकार का पाप नहीं लगता।" ये वचन कात्यायन, विष्णु और मनु आदि स्मृतिकारों के हैं। इनको देखकर कोई भी यह आसानी से जान सकता है कि उपर्युक्त स्मृतिकारों का उपदेश चुपचाप बैठकर अत्याचार सहन करने का उपदेश देने वालों के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बुद्धिमान को इन वचनों का एक–एक अक्षर तेजस्विता से भीगा हुआ प्रतीत होगा। इन वचनों से यह बात भी अनुभव में आ सकती है कि आर्यों के प्राचीन इतिहास की घटनाओं में और इन स्मृतियों के उपदेशों में पूर्ण एकमत था।

वेदों में और ब्राह्मण ग्रंथों में एसी अनेक ऋचाएँ हैं, जो अपने अनुयायियों को शत्रु का विनाश करने के लिए प्रोत्साहन देती हैं पर इस लेख में मैं उन आज्ञाओं का निरीक्षण न करके केवल प्रार्थनाओं का निरीक्षण करना चाहता हूँ और इनके द्वारा मैं यह दर्शाना चाहता हूँ कि वैदिक प्रार्थना से उपासकों की मनोवृत्ति किस ओर झुकती है ताकि इससे मनुष्य मात्र को वैदिक आदर्शों के अनुसार चलने की प्रेरणा मिले। सर्वप्रथम हम सामान्य प्रार्थना पर विचार करें–

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्।। (यजु. 22. 22)

भाष्यम्–नः राष्ट्रे इति सर्वत्र सम्बन्धः। नः राष्ट्रे अस्मद्देशे।

अर्थ– हे ब्रह्मन् ! हे परमात्मन्! हमारे राष्ट्र में सब ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञान–सम्पन्न हों। हमारे देश के क्षत्रिय अत्यन्त पराक्रमी, शस्त्रास्त्रों से लड़ने वाले, अचूक लक्ष्य बेधने वाले, हजारों शत्रुओं से लड़ने वाले, महारथी शूरवीर हों। हमारे राष्ट्र में दुधारु गाएँ, बोझ ढोने में समर्थ बैल, वेगवान घोड़े और सर्वगुण सम्पन्न स्त्रियाँ हों। युद्ध की इच्छा करने वाले वीर विजयी हों। यजमान का पुत्र **(सभेयः)** सभा में जाने योग्य अर्थात् विद्वान् और **(वीरः)** शूरवीर हों। हमारे राष्ट्र में समय पर वृष्टि हो और उसकी सहायता से सब औषधियाँ उत्तम फल वाली हों और हमारे राष्ट्र में हमारा योगक्षेम उत्तम रीति से हो।"

यह राष्ट्रीय प्रार्थना मनुष्य मात्र के हर राष्ट्र के पूर्ण और उच्च उद्देश्य की द्योतक है। मनुष्य की उन्नति के लिए किन–किन बातों की जरुरत होती है और किन–किन राष्ट्रीय सद्गुणों से राष्ट्र का सौभाग्य बढ़ता है, ये सब बातें इस मन्त्र में बताई गई हैं। ज्ञान, शौर्य, वीर्य और धन–धान्यादि सम्पत्ति इन सब बातों पर राष्ट्र की उन्नति आधारित होती है। अतः हमारे राष्ट्र में इन सभी गुणों की उन्नति होनी चाहिए। यही इच्छा सब नागरिकों की होनी चाहिए। नागरिकों की इच्छाओं का वर्णन इस मंत्र में बहुत सुन्दर रीति से किया है। स्वावलम्बन के लिए किन बातों की ज़रुरत होती है, इसका ज्ञान भी इस मन्त्र के मनन से हो सकता है। इन सद्गुणों का परिणाम किन कार्यों में होना चाहिए, यह बात अथर्ववेद के राष्ट्रगीत (पृथिवीसूक्त) में स्पष्ट की गई है–

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्यात् यो अभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि
(अथर्व 12.1.14)

अर्थ– "हे मातृभूमे ! (भूमिमाता) जो हमसे द्वेष करता है, जो हम पर सेना भेजकर हमारा नाश करना चाहता है, जो हमें गुलाम बनाना चाहता है, जो मन से या शास्त्रों से हमें कष्ट देना चाहता है, उसका तू समूल नाश कर।"

पिछले मंत्र और इस मंत्र की संगति लगाने पर इनका मनुष्यों के

लिए अत्यन्त उपयोगी भावार्थ निकलता है। पिछले मंत्र में इस प्रकार प्रार्थना की गई है कि– "हमारे देश में विद्वान् ब्राह्मण, धैर्यवान्, शूर और तेजस्वी क्षत्रिय, उत्तम गाएँ, बैल, घोड़े और धनधान्य से सम्पन्न वैश्य हों।" और इस मंत्र में ऐसी अभिलाषा प्रदर्शित की है कि–"हमसे द्वेष करने वालों का, सेना लेकर हम पर आक्रमण करने वालों का, हमें गुलाम बनाने की इच्छा करने वालों का और हमारा अहित चाहने वालों का नाश हो।" इन दोनों मंत्रों की संगति लगाने पर इस प्रकार अभिप्राय निकलता है कि पूर्वोक्त मंत्र में बताए हुए सद्गुण सिर्फ इसीलिए बढ़ाने चाहिएँ कि दूसरे मंत्र में बताए गए शत्रुओं को हम नष्ट कर सकें।

स्पष्ट है कि जो विद्वान् अपने राष्ट्र के प्रति होने वाले शाब्दिक द्वेष को शब्दशास्त्र की सहायता एवं अपनी वाणी की युक्ति से खंडित नहीं करता और सभाओं में और लेखों में अपने राष्ट्र की उत्तमता स्थापित नहीं करता, उस विद्वान् का राष्ट्र के लिए क्या उपयोग है? उसी प्रकार जो क्षत्रिय शत्रु की सेना का एवं गुलामी का नाश नहीं करता, तो उसके छत्रपतित्व और शमशेर बहादुरी का राष्ट्र को क्या लाभ? और इसी प्रकार जो वैश्य व्यापार के क्षेत्र में अपने राष्ट्र को आगे नहीं बढ़ाता, उसके पास यदि हजारों गाएँ, हज़ारों घोड़े आदि भी हों तो भी उससे राष्ट्र का क्या फायदा? तात्पर्य यह है कि पहले मंत्र (यजु. 22.22) में श्रद्धालु भक्तों ने परमेश्वर से जिन सद्गुणों को अपने राष्ट्र में बढ़ाने की प्रार्थना की है दूसरे मंत्र (अथर्व. 12.1.14) में उन्हीं सद्गुणों का उपयोग राष्ट्र के फायदे के लिए करने की प्रार्थना की है।

इतिहासज्ञ भी इस बात को मानते हैं कि ज्ञान के सिवाय क्षात्रतेज व्यर्थ है और क्षात्र तेज और ओजस्विता के बिना ज्ञान व्यर्थ है। इस प्रकार मनुष्य ज्ञानशक्ति और क्षात्रशक्ति दोनों से सम्पन्न हों। जिस राष्ट्र में दोनों ही शक्तियाँ उत्तम होंगी, वह राष्ट्र सौभाग्यशाली होगा। इन दोनों शक्तियों के विषय में वेद कहते हैं–

मदेम शतहिमाः सुवीराः

(अथर्व. 19/12/1)

तत्त्वा यामि सुवीर्ये तद् ब्रह्म पूर्व चित्तये

(अथर्व. 20/9/3)

भाष्य– याप्ति याचामि। पूर्वचित्तये अपूर्वप्रज्ञानाय।

अर्थ–"उत्तम वीरों से युक्त होकर हम सौ वर्षों तक आनन्दित और उन्नत हों। हे परमेश्वर! हम तुझसे प्रार्थना करते हैं कि वह (सुवीर्य) तेजस्वी क्षात्रबल और ओजस्वी ज्ञानबल हमारे अन्दर पूरी तरह से रहे।"

इस प्रार्थना मन्त्र में (1) विद्वत्व, (2) क्षत्रियत्व, (3) पूर्णायु की प्राप्ति की प्रबल इच्छा दिखाई देती है। जिस राष्ट्र के नागरिक में ये तीन इच्छाएँ बलवती होती हैं और उन इच्छाओं के अनुरूप कार्य किया जाता है, वही समाज जीवित रहता है। परन्तु जिस समाज में (1) गुलामी के लिए ज्ञान का व्यय, (2) दास्यत्व की वृद्धि के लिए क्षात्रशक्ति का व्यय और (3) व्यसनों में आयु का क्षय होता हो, उस समाज को व्याधिग्रस्त समझना चाहिए। ऐसे रोगी समाज में पुनः तेजस्विता लाने के लिए रोग के अनुकूल उपचार एवं पथ्य का पालन करके ज्ञान. क्षात्र और आयु की क्षीणता को रोककर उन्हें अन्तर्मुख करके फिर से उन्हें उत्तम बनाना चाहिए। समाज के अधिकांश व्यक्तियों में ये विचार जागृत होने चाहिएँ कि "मैं स्वयं के लिए न होकर समाज, देश एवं राष्ट्र के लिए हूँ।" इन विचारों से देश की समस्त शक्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। जितने अन्तःकरणों में यह शक्ति जिस प्रमाण से बढ़ेगी, उस प्रमाण से उस राष्ट्र में जीवन पैदा होगा। जो मनुष्य चाहे कि यह विचार जागृति राष्ट्र में पैदा हो तो उसे चाहिए कि वह किसी भी पदार्थ को स्वीकार करने से पूर्व निम्न मन्त्र के भावों पर अपने हृदय में विचार करे–

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा।
अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय
पर्यहामि शतशारदाय।।

(अथर्व. 19/37/3)

भाष्यं–ऊर्जे अन्नाय। अभिभूयाय शत्रुजयाय।

अर्थ– "हे पदार्थ! अन्न, बल, ओजस्विता, सहनशक्ति, शत्रुओं का निर्दलन, राष्ट्र का पोषण और सौ वर्ष की आयु आदि तमाम उत्तम गुणों के लिए तुझे मैं ग्रहण करता हूँ।"

इस मंत्र में यद्यपि पदार्थ को लक्ष्य करके बात कही गई है, तो भी उसमें निहित भाव आसानी से समझने योग्य है। इस मंत्र से अनेक बोध मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं– (1) जिसको ग्रहण करना हो, वह पदार्थ अन्न रूप और बलवर्धक होना चाहिए अर्थात् शराब, भांग, अफीम, चरस, गांजा, तम्बाकू और वेश्या आदि अनेक पदार्थ जो राष्ट्रवासियों को अवनत करते हैं, और स्वयं भी अन्नरूप एवं बलोत्पादक नहीं होते, प्रत्युत राष्ट्रवासियों की वीर्यशक्ति को कमज़ोर करते हैं. छोड़ देने चाहिए। (2) ओजस्विता और सहनशक्ति राष्ट्र के पोषण के लिए आवश्यक हैं। शतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति से युक्त मनुष्य ही ज्ञान और ओज की सहायता से जनसमाज को उन्नत कर सकता है, इसलिए ऐसे पदार्थों का संग्रह करना चाहिए जिनकी सहायता से ज्ञान, तेज और सहनशक्ति की वृद्धि हो। (3) लोग अन्न खाकर पुष्ट हो गए, व्यायाम करके बलवान हो गए, पुस्तकें पढ़कर ज्ञानी हो गए और अनेक प्रकार से सहनशील भी हो गए, पर यह तो वैयक्तिक उन्नति हुई। वैयक्तिक उन्नति राष्ट्र की उन्नति नहीं कही जा सकती। व्यक्तियों में ज्ञान, शौर्य, बल और सहनशक्ति होने पर भी राष्ट्र के अवनत होने के उदाहरण इतिहास में देखे जा सकते हैं। इसका कारण यही है कि इस मन्त्र में वर्णित दो गुणों का उन व्यक्तियों में अभाव होता है इसलिए अपने राष्ट्र को जीवित रखने की अभिलाषा करने वालों को चाहिए कि वे शत्रु का नाश और अपने राष्ट्र का पोषण करने के लिए पूर्वोक्त गुणों का उपयोग करें। इस प्रकार इस मंत्र से अनेक बोध मिलते हैं। राष्ट्र अवयव रूप मनुष्य जो कुछ भी करें, सिर्फ इसीलिए करें, कि अन्न मिले, बल बढ़े, ज्ञान और तेज की वृद्धि हो, सहनशक्ति प्राप्त हो, शत्रुओं को हराकर राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर चढ़ावे और कोई भी अकाल मृत्यु से न मरे। यही भाव उपर्युक्त मंत्र का है। कितने उदात्त उपदेश वेदों में हैं। इस प्रकार उदात्त भावों से भरे हुए अनेक वेदमंत्र हैं। पर उन मन्त्रों के पठन मात्र से ही कुछ होने वाला नहीं है, जब उन उपदेशों को आचरण में लाया जाएगा, तभी मनुष्य मात्र की उन्नति हो सकेगी।

इस मन्त्र में **'राष्ट्रभृत्याय'** शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। "राष्ट्र की सेवा करने के लिए ही मैं इस पदार्थ को स्वीकार करता हूँ।" यह भाव इस शब्द का है। इस शब्द के द्वारा मानो मनुष्य यह प्रतिज्ञा करता है कि "मैं इन पदार्थों का सेवन करके जो शक्ति और आयु अपने में बढ़ाऊँगा, उसका उपयोग राष्ट्र की सेवा के कार्य में ही करुँगा।" पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके कदमों पर चलने वाले कई भारतीय विद्वान् भी जो यह कहते हैं कि वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रीय ऐक्य की कल्पना, राष्ट्रसेवा के भाव, राष्ट्र सेवा के लिए आत्मसमर्पण की भावना आदि कुछ भी नहीं है वे उपर्युक्त मंत्र में वर्णित 'राष्ट्रभृत्य' की कल्पना को आँख खोलकर देखें। वेदों में अनेक उदात्त भावनाएँ हैं। वे कहते हैं कि मनुष्यों का अपने राष्ट्र के साथ सम्बन्ध दृढ हो, उनके वैयक्तिक हित राष्ट्रहित के लिए रोड़े न बनें। वधूवर को उपदेश देते हुए वेद कहता है–

अभिवर्धतां पयसाऽभि राष्ट्रेण वर्धताम्।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ।।

(अथर्व. 6/78/2)

"ये वधूवर दूध पीकर पुष्ट हों, वे अपने राष्ट्र के साथ उन्नत होते रहें। वे अनेक तरह की सम्पत्तियों से युक्त होकर, तेजस्वी बनकर कभी भी अवनत न हों।"

इस मन्त्र में आए हुए, "स्त्री–पुरुष दूध पीकर पुष्ट हों" इन शब्दों का तात्पर्य यही है कि शराबखोरी आदि दुर्व्यसन उस परिवार में न हों। यह वैदिक उपदेश सार्वत्रिक, सार्वभौमिक और सार्वकालिक है। "स्त्री–पुरुष राष्ट्र के साथ–साथ उन्नत हों" इन शब्दों के द्वारा वेद यह उपदेश देना चाहता है कि मनुष्य राष्ट्रोन्नति के लिए हानिकारक कोई भी काम न करें।

क्रमशः

प्रस्तोता–योगेन्द्र वधवा

(1996 अप्रैल 21, को प्रकाशित)

'राष्ट्रभृत्याय' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। "राष्ट्र की सेवा करने के लिए ही मैं इस पदार्थ को स्वीकार करता हूँ।" यह भाव इस शब्द का है। इस शब्द के द्वारा मानो मनुष्य यह प्रतिज्ञा करता है कि "मैं इन पदार्थों का सेवन करके जो शक्ति और आयु अपने में बढ़ाऊँगा, उसका उपयोग राष्ट्र की सेवा के कार्य में ही करूँगा।" पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके कदमों पर चलने वाले कई भारतीय विद्वान् भी जो यह कहते हैं कि वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रीय ऐक्य की कल्पना, राष्ट्रसेवा के भाव, राष्ट्र सेवा के लिए आत्मसमर्पण की भावना आदि कुछ भी नहीं है वे उपर्युक्त मंत्र में वर्णित 'राष्ट्रभृत्य' की कल्पना को आँख खोलकर देखें।

पत्र/कविता

सुख और सन्तोष

सुविख्यात दार्शनिक रसेल जब धर्मग्रन्थों का अध्ययन करते तथा विद्वानों से बात करते, तो उन्हें लगता कि संसार में सच्ची सुख–शान्ति प्राप्त करना असंभव हैं। वह स्वयं तमाम सुख–सुविधाओं के उपलब्ध होने के बावजूद सुख की अनुभूति नही कर पाते थे। एक दिन रसेल मन बहलाने के लिए अपने बाग में गए। उन्होंने देखा कि बाग का माली थॉमस खुरपी हाथ में लिए पौधे रोपता–रोपता मस्ती के साथ गीत गा रहा है। पास में उसने अनाज के दाने रखे हुए थे, जिन्हें वह आस–पास चहचहा रही चिड़ियों के सामने डालकर खुशी से नाचने लगता था। रसेल ने माली से पूछा, 'तुम आज बहुत खुश नजर आ रहे हो ? क्या हमेशा ऐसे ही प्रसन्न रहते हो या आज कुछ खास बात है'? माली ने जवाब दिया, 'साहब इस सुन्दर प्रकृति का भरपूर आनंद लेने तथा जितना वेतन मिलता है, उतने में काम चला कर पूर्ण संतोष रखने के कारण दुःख और उदासी मेरे पास फटकने भी नही पाती। दुखी वही व्यक्ति होता है, जिसकी आवश्यकताएं ज्यादा होती हैं। जिसे उपलब्ध साधनों से ही संतोष हो जाता है, उसे भला किस बात का दुःख! दार्शनिक रसेल माली के मुख से सुखी रहने का रहस्य सुनकर हतप्रभ रह गए।

स्वामी गुरुकुलानन्द कच्चाहारी
'इतिहास के बिखरे पन्ने' से साभार

****

आत्मा परमात्मा का अंश नहीं है

आमतौर पर लोग मानते हैं कि आत्मा परमात्मा का ही अंश है उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है। यदि आत्मा को परमात्मा का अंश मान लिया जाये तो फिर मनुष्य को उपासना करने की क्या ज़रूरत रह जाती है? क्योंकि जो गुण मूल में होते हैं वे ही गुण उसके अंश में होने चाहियें। जैसे समुद्र में खारा पानी भरा है यदि उसकी एक बूंद चखें तो वह भी खारी ही लगेगी। जब परमात्मा आनन्द स्वरूप हैं तो फिर आत्मा यदि उनका अंश होती तो वह भी आनन्द रूप ही होती। ऐसा होता तो फिर भक्ति करने की आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि परमात्मा का आनन्द पाने के लिये ही तो भक्ति का विधान किया गया है। आत्मा और परमात्मा के सत और चित (चेतनता) मात्र ये दो गुण एक जैसे होने से वे एक नहीं हो सकते। फिर परमात्मा के दिये हुए वेदों ने ही जगत् में कुल तीन सत्तायें परमात्मा, आत्मायें और प्रकृति बताई हैं। जिसका उदाहरण वेद ने इस प्रकार दिया है कि एक फलदार वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं उनमें एक फल को खा रहा है और दूसरा मात्र वृक्ष और पक्षी को देख रहा है। इसमें वृक्ष प्रकृति है, फल खाने वाला पक्षी आत्मा है और देखने वाला पक्षी परमात्मा के प्रतीक के रूप में है, ये तीन सत्तायें दिखाई हैं। इसे ही त्रैतवाद कहा जाता है।

(सत–रज–तम ये प्रकृति के तीन घटक हैं। इन तीनों गुणों का संयोग ही प्रकृति कहलाता है। इसीलिये प्रकृति को त्रिगुणी कहा गया है। सारा सृष्टि निर्माण इस प्रकृति से ही होता है)

अतः स्पष्ट है कि आत्मायें परमात्मा का अंश न हो कर उनसे अलग सत्ता है। परमात्मा की तरह ही आत्मायें नित्य भी हैं। आत्मा न कभी मरती है तथा न ही इसे कभी किसी विधि से मारा ही जा सकता है। वेद की इस बात को गीता ने भी दोहराते हुए कहा है कि आत्मा को कोई शस्त्र छेद नहीं सकता, आग जला नहीं सकती, वायु सुखा नहीं सकती (उड़ा भी नहीं सकती) और जल इसे भीगो नहीं सकता। यह अमर और अमिट तत्व है। इसको दण्ड आदि से कोई चोट नहीं लगती। ऐसा इसलिये होता है कि सीधे तौर पर आत्मा पर भौतिक तत्वों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ शरीर के माध्यम से कष्ट भोगने का दुःख आत्मा को प्रभावित करता है। एक शरीर पूरा होने पर उसे छोड़कर, किये गये कर्मों अनुसार फल भोगने के लिये आत्मा दूसरे शरीरों में स्थानान्त्रित होती रहती है, इसे ही जन्म कहा जाता है।

बलबीर सिंह चौहान
घरौंडा (हरियाणा)

****

मनीषी चिन्तन

युद्ध होगा (भविष्यवाणी)

युद्ध होगा। युद्ध होगा। युद्ध होगा।
युद्ध बिन कल्मष न मन का शुद्ध होगा।
है जहाँ अन्याय तो प्रतिकार भी है।
है जहाँ अपमान तो फटकार भी है।
है जहाँ शोषण वहाँ तलवार भी है।
है जहां आंसू वहां अंगार भी है।
आचरण प्रत्यक्ष वेद विरुद्ध होगा।
युद्ध होगा। युद्ध होगा। युद्ध होगा।

जब अहम् का वहम सिर चढ़ बोलता है।
द्वार तब तब युद्ध का वह खोलता है।
मार डंडी वणिक जब कम तोलता है।
तब हृदय में विषम विषधर डोलता है।
विवशता में बद्ध जब जब बुद्ध होगा।
युद्ध होगा। युद्ध होगा। युद्ध होगा।

अपहरण अपमान जब झेलेगी सीता।
तब लिखे कोदंड भू पर शर अभीता।
द्रौपदी का चीर जब जब हरण होगा।
तब सुदर्शन से लिखेंगे कृष्ण गीता।
शान्त सागर संत ऋषि जब क्रुद्ध होगा।
युद्ध होगा। युद्ध होगा। युद्ध होगा।

भूख से जब दाल रोटी दूर होगी।
मांग में जब राख ही सिन्दूर होगी।
शक्ति मद पद विपद से जब चूर होगी।
हथकड़ी बेड़ी नहीं मंजूर होगी।
मार्ग जब अनिरुद्ध का भी रुद्ध होगा।
युद्ध होगा। युद्ध होगा। युद्ध होगा।

जब जहां देखो वहां पर भ्रांति होगी।
विष बुझी शूलों भरी संक्रांति होगी
शक्ति सिसके हिचकियों में शान्ति होगी।
तब वहां पर क्रांति होगी क्रांति होगी।
सब बिकेगा शुद्ध किन्तु अशुद्ध होगा।
युद्ध होगा। युद्ध होगा। युद्ध होगा।

युद्ध की अनिवार्यता अनिवार्य है अब।
युद्ध की स्वीकार्यता स्वीकार्य है अब।
युद्ध की प्रतिबद्धता आचार्य है अब।
युद्ध कारण, कार्य सब कृतकार्य है अब।
मन 'मनीषी' युद्धरत अविरुद्ध होगा।
युद्ध होगा। युद्ध होगा। युद्ध होगा।

युद्ध का उन्माद जब सिर चढ़ रहा है।
युद्ध केवल युद्ध जब युग पढ़ रहा है।
युद्ध चारों ओर खुद को गढ़ रहा है।
युद्ध की ही ओर हर पग बढ़ रहा है।
कृष्ण के रोके नहीं अनिरुद्ध होगा।
युद्ध होगा। युद्ध होगा। युद्ध होगा।

प्रोफेसर डॉ सारस्वत मोहन 'मनीषी'
ए–13–14 सेक्टर–11, रोहिणी दिल्ली – 110085
फोन नं.– 011–27572897